ज़िन्दगी का सिस्टम

लेखक : आयतुल्लाहिल उज़मा सय्यदुल उलमा मौलाना सै0 अली नक़ी नक़वी
सम्पादन : नूरे हिदायत फ़ाउण्डेशन

(क़िस्त : 21)

शरीयत ने रोज़े का जो हुक्म दिया है उसमें इन्सान अगर बिला वजह की लज़्ज़तों के पूरा करने का ख़्याल न करें और सही तौर पर अ़मल करे तो एक महीने में हर इन्सान के ख़र्च में से एक वक़्त के खाने के ख़र्च का एक बड़ा हिस्सा बच सकता है और अगर सारे समाज का ये रोज़ों का बचाया गया वह हिस्सा जमा हो तो बड़े–बड़े ज़रूरी मज़हबी और समाजी काम इससे पूरे हो सकते हैं।

आइम्मा मासूम इमामों अ0 ने इनमें से अक्सर फ़ायदों पर अपने सूझबूझ भरे बयानें और मोजिज़ा भरे न्योर बोल से रौशनी डाली है, नीचे ये हदीसें दी जाती है।

1. हश्शाम बिन अल्हिक़म की रवायत है कि उन्हों ने इमाम जाफ़र सादिक़ अ0 से पूछा कि रोज़े के हुक्म की क्या वजह है। आप अ0 ने कहा रोज़ा वाजिब ठहराया गया, ताकि एक वक़्त ऐसा भी हो जिसमें मालदार और फ़क़ीर बराबर नज़र आये। बात ये है कि मालदार आदमी भला काहे को कभी भूख की तकलीफ़ का अहसास करता कि फ़क़ीर पर रहम करें क्यों कि मालदार जब किसी चीज़ को चाहता है तो वह चीज़ उसे आसानी से मिल जाती है। खुदाने चाहा कि अपनी बन्दों में बराबरी बनाये और मालदार को भूख की तकलीफ़ का मज़ा चखा देता कि वह कमज़ोर पर नरमदिल हो और भूखेपर तरस खाये।"

यह वह रूहानी फ़ायदा है जो ख़ुदा के पैदा किये होने के लेहाज़ से मिलता है।

2. ज़रारह की रवायत इमाम जाफ़र सादिक़ अ0 से " हर चीज़ के लिए पाक करने का एक ज़रिया होता है और जिस्म के (अन्दर की गन्दगियां जैसे बलग़म वग़ैरह) पाक करने का ज़रिया रोज़ा है।

ये वह पहला माददी फायदा (Material/ Physical Benifit) है जो निजी ज़िन्दगी से जुड़ा मैंने अर्ज़ किया था।

3. मुहम्मद बिन लेस्नान की रिवायत इमाम रज़ा अ0 से जो मसले लिख कर उन्होने पूछे थे उसके जवाब में लिखा है "

रोज़े की वजह ये है इन्सान भूख प्यास की तकलीफ़ समझे कि उसके आप से झुकाव और समर्पण पैदा हो यानी इन्सान में कूअत और ताक़त और सत्तर का जो घमण्ड है वह यह देख कर, कि एक फ़ाक़े में उसकी क्या हालत हो गयी, ज़रा कम हो और वह इनाम और सवाब का हक़ बने और उस में तकलीफ़ सहने का घमण्ड का सलाहियत पैदा हो और इससे आख़ेरत की सख़्ती समझे यानी वह समझे कि जब दुनिया की ज़रा सी तकलीफ़ में मेरा ये हालत है तो आख़ेरत की सख़्ती मैं कैसे झेल सकता हूँ। इसके अलावा उसमें मन की ख़्वाहिशों को मात देना भी छिपा है। उस में दुनिया में नसीहत हासिल होती है और आख़ेरत के लिए मार्ग दर्शन ताकि उसको दुनिया और आख़ेरत दोनों की ग़रीबी और भूख कैसे होती है इस का अन्दाज़ हो। दुनिया की भूख और ग़रीबी का अहसास होगा तो ग़रीबों के साथ हमदर्दी पैदा होगी और आख़ेरत की ग़रीबी के अहसास से अपने लिए आख़ेरत में काम आने

वाली चीज़ें इकट्ठा करने की चिन्ता होगी।

इस हदीस में कुछ उन पहलूओं की तरफ़ इशारा आ गया है जिनका बयान पहले हो चुका है।

4. फ़ज़्ल बिन शाज़ान की रवायत में जो इमाम रज़ा अ0 से है उन सारी बातों के अलावा ये भी है कि

"उनके लिए नसीहत की वजह होती है और एक तरह कि तपस्या यानी तैयारी की प्रैक्टिकस है उन फ़र्ज़ों, कर्त्तव्यों के पूरा करने के लिए जिसका पूरा करना उसके ज़िम्मे वाजिब है।"

आत्मा के विकास का वह अहम पहलू है जिसे विस्तार के साथ पहले बयान किया गया है।

मालूम हुआ कि रोज़े में रूहानी फ़ायदे (Spritual Gains) हैं और माद्दी फ़ायदे (Physical Gains) भी और ये ख़्याल करना बिल्कुल ग़लत है कि इस्लाम ने रूहानीयत की ध ुन में माद्दीयत (Material) वालों की बिल्कुल अनदेखी कर दी है।

रोज़े पर रोज़ा (बीच में अफ़तार के बिना)

अगर इस्लाम ने माद्दी पहलू को रोज़े के हिस्से में नज़र अन्दाज़ किया होता तो 'सौमे विसाल' की इजाज़त दे देता। सौमे विसाल क्या है? यानि दो दिन या उससे ज़्यादा का रोज़ा, इस तरह कि बीच में अफ़तार न किया जाए। ज़ाहिर है कि इसमें अपने पर कंट्रोल बहुत ज़्यादा होगा और रूहानी ज़िन्दगी का मेयार यही हो तो इसमें ऊँचाई पैदा होगी। मगर इस्लाम ने इस तरह के रोज़े की इजाज़त नहीं दी। उसका रोज़ा सुबह से मग़्रिब तक की मुद्दत (अवधि/Period) से आगे नहीं बढ़ सकता।

सफ़र में रोज़े को छोड़ने का हुक्म

यह भी रोज़े के हुक्म के साथ माद्दी पहलू (Material aspect) का लेहाज़ ही है कि शरीयत ने सफ़र की हालत में जिस तरह नमाज़ की चार रकअ़त के बजाए दो रकअ़त ही रखी है उसी तरह रोज़े के छोड़ने का हुक्म दिया है। ज़ाहिर है कि इन्सान को जितना जी का लगाव, इत्मीनान, चैन और आराम घर पर होता है वह सफ़र में हरगिज़ नहीं होता। इस से शरीयत ने इन्सान से रोज़े की ज़िम्मेदारी को इस हालत में हटा दिया।

कुछ लोग ये ख़्याल करते हैं कि ये क़स्र नमाज़ और रोज़ा छोड़ने का हुक्म उस ज़माने में सही था जब सफ़र बहुत ही मुश्किल और सख़्त था। ऊँट का सफ़र और मुश्किल रास्ते और सख़्ती, उस ज़माने में इस रियायत की ज़रूरत थी, लेकिन अब जबकि रेल और बस के सफ़र ने रास्तों को आसान कर दिया है और अक्सर ए0सी0 या फ़र्स्ट क्लास तक में सफ़र की नौबत आती है तो इस हालत में इस रियायत की कोई ज़रूरत नहीं है मगर ये ख़्याल सही नहीं है। हक़ीक़त ये है कि ये लोग उस पुराने ज़माने के सफ़र की ज़िन्दगी का अपनी रोज़मर्रा की शहरी ज़िन्दगी के लेहाज़ से बराबरी करते है तो वह बहुत मुश्किल नज़र आता है और उस लेहाज़ से अपना सफ़र कुछ भी नहीं महसूस होता। लेकिन उस ज़माने के लोगों के सफ़र की ज़िन्दगी का उनके रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से बराबरी (Compare) करें और अपने सफ़र को अपने घर की ज़िन्दगी के लेहाज़ से देखें तो मालूम होगा कि उनका सफ़र उनके रहन–सहन के लेहाज़ से उतना ही कठिन था जितना आज का सफ़र है। इसलिए अगर उनका रहन–सहन उनकी आदतों और बर्दाश्त की कूवत के लेहाज़ से उनका सफ़र इस रियायत का मुस्तहक़ है तो हमारी आराम से भरी ठहराव की ज़िन्दगी के लेहाज़ से हमारे सफ़र को उसका मुस्तहक़ होना चाहिए। इसके अलावा ये देखिए कि जिस तरह हमारे ज़माने के लेहाज़ से हमारे सफ़र का मेयार (Standard) अलग–अलग है और सेकेण्ड और फ़र्स्ट एसी, (या जहाज़ में एकानॉमी, एक्ज़ीक्यूट्यू क्लास) के दर्ज हैं, इसी तरह पिछले ज़माने के सफ़र के तरीक़े के लेहाज़ से उस ज़माने में भी

इसी तरह अलग–अलग दर्जे ज़रूर थे। पैसे वाले अमीर लोग ज़रूरी ही इस तरह सफ़र करते थे जो उस ज़माने की ज़िन्दगी के लेहाज़ से पूरी तरह आराम भरा समझा जाता होगा। अगर सफ़र में क़स्र का हुक्म किसी ग़ैर मामूली/असामान्य परेशानी के लेहाज़ से होता तो इसमें ये फ़र्क़ होना चाहिए था कि ग़रीब लोग जो ज़्यादा ही परेशानी के साथ सफ़र करें वह इस रियायत से फ़ायदा उठा सकते हैं लेकिन अमीर लोग जो चैन और आराम से सफ़र करते हैं वह इस रियायत के मुस्तहक़ नहीं हैं। जब ऐसा नहीं किया गया और आम तौर पर ये हुक्म लागू कर दिया। या तो इससे साबित होता है कि यह हुक्म किसी असामान्य/ग़ैर मामूली परेशानी के लेहाज़ से नहीं दिया गया है, बल्कि ये हुक्म उस निजी नागवारी और बेचैन के लेहाज़ से लागू किया गया है जो 'सफ़र' की वजह से कुदरती (Natural) तौर पर इन्सान में पैदा होती है। अब इससे बढ़ कर इन्सान की माद्दी (Material) ज़िन्दगी का लेहाज़ और क्या होगा?

कामकाजी ज़िन्दगी पर रोज़े का असर

ये एतराज़ किया जाता है कि एक भूखा–प्यासा न तो दिन भर काम कर सकता है और न उसको काम करना चाहिए, क्यों कि अगर उसके जिस्म (Body) ने मेहनत की तो उसका असर उसकी सेहत (Health) पर ज़रूर पड़ेगा। लेकिन अगर एक ग़रीब मज़दूर काम नहीं करता है तो इसके नतीजे में उसे माली मुश्किलों और इक़्तेसादी (Economic) बदहाली का सामना करना पड़ेगा। इस सवाल के करते वक़्त इंसान उस को ज़िन्दगी का ध्यान करता है जो ज़िन्दगी मज़दूर बिताते है जिसमें उनको धूप में चलना फिरना और खड़ा रहना पड़ता है, इन्जन में कोएला देना या बोझ उठाना पड़ता है। इन सबका ध्यान वह अपनी चैन और आराम चाहने वाली तबियत के लेहाज़ से करता है और इस वजह से वह ख़्याल करता है कि वह बड़ा सख़्त काम है और उसके साथ रोज़ा हरगिज़ नहीं हो सकता लेकिन ग़ौर करने पर मालूम होता है कि जो भी जिस पेशे (Profession) को अपना लेता है और उसको अपने जीवन का हिस्सा बना लेता है तो उसकी सहने की ताक़त उसी लेहाज़ से बढ़ जाती है। हम जिस वक़्त मई जून की गर्मी में मज़दूरों को देखते है कि वह धूप में खड़े दीवार उठा रहे हैं या मज़दूर ईंटे ढो–ढो कर ऊपर पहुँचा रहे हैं तो हम यक़ीन के साथ कह सकते हैं कि हम अगर एक बार इससे आधा बोझ भी उतनी दूर ले जाए या थोड़ी ही देर इस धूप में खड़े रहें तो हमारी प्यास बहुत भड़क जाए और हम फ़ारन बेचैन होकर ठंडे पानी की तरफ़ लपक जाएँ, मगर क्या ये लोग इस धूप में खड़े होकर और इस बोझ को उठाकर इसी तरह बार–बार पानी पीते हैं, जिस तरह हमें इस मौक़े पर ज़रूरत का एहसास होता है, हरगिज़ नहीं। वह पानी उसी तरह दिन में कुछ बार पीते हैं जिस तरह गर्मी के मौसम में हम पीते हैं, इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि वह रोज़ा किसी सूरत से रख ही नहीं सकते जिस तरह हमें इत्तेफाक से अगर ऐसी ग़ैर मामूली कड़ी मेहनत पड़ जाए तो हम रोज़ा न रख सकेगें और अगर उन्होंने रोज़ा रखा और मान लीजिए रोज़े से सेहत पर असर पड़ने लगा तो उन पर से इस मोक़े पर रोज़े की ज़िम्मेदारी हट हो जाएगी। इस सूरत में इक़्तेसादी ;म्बवदवउपबद्ध बदहाली और माली मुश्किलें कैसे पैदा हो सकती हैं? ये तो तब पैदा होती हैं जब उन्हें मजबूर किया जाता है कि अगर सेहत पर बुरा असर पड़ने लगे तब भी वह रोज़ा रखे जाएँ मगर अपना काम छोड़ दें, लेकिन ऐसा हरगिज़ नहीं।

रोज़ो की मुद्दत (Period/अवधि)

रोज़े के वाजिब होने को कुरान मजीद ने एक ख़ास मुद्दत के साथ सीमित किया है

''शहरू र–म–ज़ानल्लज़ी अन्ज़ला फ़ीहिल कुरआ–न हुदल्लिन्नासि व बय्य–नात मिनल हुदा वल फ़ुर्क़ान ''

हम ख़ास तौर से इसी महीने को निश्चित करने के बारे में तो अक़्ली हैसियत से कुछ नहीं समझ सकते और इसको समझने की ज़रूरत भी नहीं क्यों कि बहरहाल यह महीना न होता तो कोई और महीना होता लेकिन सवाल यह है कि किसी एक महीने को निश्चित करने की ज़रूरत क्या है? इसके लिए हमें ग़ौर करना चाहिए कि रोज़े के वाजिब होने के लिए कितनी सूरतें ख़्याल में आती हैं, पहली सूरत यह है कि इसके लिए न कोई ख़ास मुद्दत होती है और न कोई गिनती निश्चित होती बल्कि यह कहा जाता कि जिसको जितनी सकत हो और जितना दिल चाहे उतने रोज़े रख लें।

दूसरी सूरत यह है कि गिनती निश्चित होती मगर कब कब रोज़ा रखने की बात न होती यानी छूट दे दी जाती कि साल भर में इतने रोज़े पूरे हो जाएँ चाहे एक साथ चाहे अलग–अलग।

तीसरी सूरत यह है कि गिनती भी निश्चित होती और एक ख़ास अंदाज़ भी निश्चित होता कि एक महीना लगातार रोज़ा होना चाहिए, मगर महीना निश्चित न होता बल्कि छूट होता कि जब चाहो रख लो। अब देखना यह है कि यह सूरतें कहाँ तक बयान के मक़सद के मुताबिक़ हैं।

याद रखना चाहिए कि क़ानून का ख़ास मक़सद डिसिप्लिन (discipline) और इसके साथ फिर यह कि फर्ज़/कर्त्तव्य का एहसास बना रहे। मज़हब की खास बात यह है कि वह आदमी की निजी ज़िन्दगी में पहुँचता है और बन्धन लगाता है। यही वह चीज़ है जिसमें राज या सरकारी क़ानून मज़हब के आगे हथ्यार डाल देता है और मात खा जाता है। सरकारी क़ानून केवल सामूहिक और बाहरी ज़िन्दगी पर बन्धन लगाता है और उसके दबाव में शरीर आता हूं लेकिन मज़हब का क़ानून दिल, दिमाग़, मन और अन्तरात्मा पर कन्ट्रोल करके आदमी की निजी ज़िन्दगी और एकान्त के कामों में भी बान्ध लेता है इस बन्धन का एहसास बाक़ी रखने के लिए ज़रूरी है कि मज़हब की तरफ़ से तबियत पर कुछ दबाव एक फ़र्ज़ के तौर पर लागू हो और इसके साथ उसमें एकरंगी और एकरूपता हो ताकि समाज के सब लोग इसके ज़रिए से एक डोरे में जुड़े दिखें। इस्लाम ने अपनी शिक्षाओं के हर हिस्से में फ़र्ज़ के इस एहसास को बाक़ी रखने और एकरंगी व एकरूपता पैदा करने का ख़ास एहतेमाम किया है।

नमाज़ के बयान में क़िब्ला और वक़्त वग़ैरह के टॉपिक में इस पर काफ़ी कुछ बयान किया जा चुका है। ऊपर बयान की गई तीनों सूरतें इस ख़ास मक़सद के लेहाज़ से बिल्कुल कामयाब नहीं हैं। पहली सूरत कि रोज़ों की कोई गिनती निश्चित न होती, यह सब हैसियतों से कुबूल करने के क़ाबिल नहीं है, पहली बात तो यह कि इसमें फ़र्ज़ का एहसास जिसके लिए तबियत पर एक दबाव पड़ने की ज़रूरत है, वह इसमें पाया नहीं जाता।

जब मामला हमारी सकत और हमारी चाह से जुड़ गया तो ज़ाहिर है कि हममें से हर कम से कम अपने ज़िम्में वाजिब करेगा, ऐसे में कोइ नेज़ाम (System) भी नहीं होता और लोगों की एकरंगी भी नहीं रहती क्योंकि कोई साल में दस दिन रख रहा है और कोई पाँच दिन और कोई एक दिन। यह तो कोई क़ानून से बन्धना नहीं हुआ बल्कि एक खुशी का कारोबार हुआ।

इससे वह रूहानी (Spititual) और माद्दी (Material) फ़ाएदे हरगिज़ पूरे नहीं हो सकते जो रोज़े का असली मक़सद है।

●●●

(जारी...............................)